

भगवान महावीर जैन धर्म के संस्थापक नहीं

(विशेष अध्ययन के लिए देखें – भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृष्ठ 63-70, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद)

भगवान महावीर के जीवन चरित में अनेक प्रकार की चमत्कारिक एवं अलौकिक घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं। लेखक की मान्यता है कि इन घटनाओं की प्रामाणिकता, सत्यता, इतिहास-सम्मतता पर तर्क-वितर्क करने की अपेक्षा उनकी जीवन दृष्टि को जीवन में उतारने की आवश्यकता है। उनके जीवन-चरित की प्रासंगिकता प्रज्ञा, ध्यान, संयम एवं तप द्वारा आत्मस्थ होने में है। उनके जीवन-चरित की चरितार्थता अहिंसा आधारित जीवन दर्शन के अनुरूप जीवन यापन करने में है। इसी कारण लेखक ने उनकी साधना का विवरण प्रस्तुत करते समय इस दृष्टि से विचार किया है कि 'वर्धमान' ने किस प्रकार तप एवं साधना के आयामों को नया विस्तार दिया।

(विशेष अध्ययन के लिए देखें – भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृष्ठ 52-63, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद)

तत्त्वबोध की दृष्टि एवं अभिव्यक्ति : अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद

जो तत्व, पदार्थ अथवा द्रव्य है वह सत है – 'सत् दव्वं वा'। कालचक्र चलता रहता है। लोक और अलोक – ये दोनों पहले से हैं और अनन्तकाल तक हैं। दोनों शाश्वत हैं। जगत अनादि से है और अनन्तकाल तक रहेगा। इसकी मूलवस्तु अनादि-निधन है। चेतना या आत्मा भी अनादिनिधन है; भौतिक पदार्थ भी अनादि-निधन है। कोई किसी को न तो उत्पन्न करता है न किसी का विनाश करता है। मूलवस्तु न तो उत्पन्न है और न कभी उसका विनाश होता है। गीता में कहा गया है – 'नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः' असत की उत्पत्ति नहीं होती और सत का सर्वथा अभाव नहीं होता।

एक दृष्टि 'सत' तत्व को कूटस्थ नित्य मानती है। वह अचल है, अपरिवर्तनीय है, शाश्वत है। वह अपरिवर्तनीय है इस कारण उसमें किसी प्रकार का परिणाम या विकार नहीं होता। यह दृष्टि सत तत्व को पारमार्थिक मानती है। यह दृष्टि देशकाल कृत विशेषों अथवा आभासों को व्यावहारिक मानती है। व्यावहारिक होने के कारण विशेषों को अपारमार्थिक मानती है। विशेषों अथवा आभासों में किसी परम तत्व का अंश नहीं मानती। उन्हें अज्ञान या अविद्या के कारण कल्पित मानती है; मिथ्या मानती है। इनमें जो सत्व भासित होता है वह उनका अपना नहीं है। यह आभास अखंड एवं अभिन्न मूल तत्व के अस्तित्व से सद्रूप प्रतीयमान है। केवल मूल अधिष्ठान का अस्तित्व है, उसकी ही सत्ता है। सत्ता है, इस कारण वही सत है। मूल अधिष्ठान ही पारमार्थिक है, शाश्वत है, कूटस्थ नित्य है, ध्रुव है।

इसके विपरीत विश्व को देखने की एक अन्य दृष्टि यह मानती है कि देशकाल कृत विशेष ही सत है। कोई कूटस्थ नित्य नहीं है। कोई ध्रुव नहीं है। कोई शाश्वत नहीं है। संसार चक्र चल रहा है। विश्व परिवर्तनशील है। विश्व की प्रत्येक वस्तु के प्रत्येक अवयव में परिवर्तन हो रहा है। प्रतिक्षण प्रति पदार्थ में बदलाव हो रहा है। विश्व की सभी वस्तुएँ-स्कंध, आयतन और धातु रूप में विभक्त हैं। सभी अनित्य

हैं। सभी क्षणिक हैं। विश्व का प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण चंचला के समान परिवर्तनशील है, नश्वर है, क्षणिक है।

इस प्रकार एक दृष्टि 'सत' को अविनाशी, अव्यय, निर्विकार, नित्य, अचल एवं ध्रुव मानती है। दूसरी दृष्टि 'सत' को विनाशी, उत्पाद-व्यय युक्त, विकारी, अनित्य, परिणामी एवं परिवर्तनशील मानती है।

भगवान महावीर ने विरोधी विचार दृष्टियों के बीच समन्वय स्थापित किया। उन्होंने उन्मुक्त दृष्टि से विचार किया। उन्होंने उदार एवं सहिष्णु होकर चिंतन किया। उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से सम्पूर्ण सत्य को पहले विभक्त किया, विश्लेषित किया। पदार्थ के अनेक गुणों को एक-एक करके आत्मसात किया। इसके बाद पदार्थ को संश्लिष्ट दृष्टि से देखा। समग्र सत्य को पहचाना। उन्होंने देखा कि एक अपेक्षा से पदार्थ अविनाशी है। दूसरी अपेक्षा से वही विनाशी है। एक दृष्टि से पदार्थ में बदलाव हो रहा है; उत्पाद-व्यय हो रहा है, दूसरी दृष्टि से जिस पदार्थ में उत्पाद-व्यय हो रहा है वह पदार्थ वही है; ध्रुव है। एक दृष्टि से पदार्थ नित्य है। पदार्थ के गुण की दृष्टि से नित्य है। दूसरी दृष्टि से पदार्थ अनित्य है। देशकाल आदि के द्वारा जो परिणामी एवं परिवर्तित हो रहा है वे उसके रूप आदि का परिवर्तन है। वे उसकी पर्याय हैं। भगवान महावीर ने इसी कारण अपने प्रथम प्रवचन में कहा कि 'सत' उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है :

“सद् द्रव्य लक्षणम् । उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्” ।

(तत्त्वार्थ सूत्र, 5/29-30) ।

द्रव्य (पदार्थ) का लक्षण सत है। जो सत है उसकी सत्ता है, उसका अस्तित्व है। अस्तित्व गुण के कारण पदार्थ अविनाशी है। उसका कभी विनाश नहीं होता। पदार्थ को द्रव्य भी कहा गया है। इस कारण वह हमेशा बहता रहता है, सदा एक रूप नहीं रहता, एक रूप से दूसरे रूप में बदलता रहता है, अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। अवस्थाओं का परिवर्तन पदार्थ की पर्याय हैं। 'सत' लक्षण की जैन दर्शन में व्याख्या की गई है कि स्व की अपेक्षा से पदार्थ 'सत' है। इसका अर्थ है कि पदार्थ स्वरूप से है। इसका अर्थ यह भी है कि पदार्थ स्व रूप से है; पर रूप से नहीं है। एक पदार्थ अपना सब कुछ कर सकता है; दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता। स्व की अपेक्षा से अस्तित्व है। पर की अपेक्षा से अस्तित्व नहीं है।

जिसका सत्ता है, जिसका अस्तित्व है वह ध्रुव है। उसका कभी विनाश सम्भव नहीं है। मगर जिसकी सत्ता है, उसकी अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। कोई जन्म लेता है। जन्म लेता है तो मरता भी है। जन्म से मृत्यु के बीच की अवस्थाओं में परिवर्तन प्रत्यक्ष है। जिसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है, वह तो वही रहता है। इसी प्रकार वर्तमान जन्म, विगत जन्म, आगत जन्म तो अवस्थाओं की स्थितियाँ हैं। उनमें जो जन्म लेता है वह तो स्वरूप से सदा स्थित है, ध्रुव है, नित्य है, निरंतर है।

अवस्थाओं में परिवर्तन उत्पाद-व्यय रूप है, अनित्य है, परिणामी है। नवीन अवस्था का प्रकट होना उत्पाद है। उत्पाद के समय ही पूर्व अवस्था का विनाश होना व्यय है। अनादि एवं अनन्तकाल तक जो सदा स्थिर एवं मूल स्वभाव है वह पदार्थ है। जिसका उत्पाद एवं व्यय नहीं होता, वह ध्रौव्य है। त्रिकाल की अपेक्षा से 'सत' ध्रुव है। पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद-व्यय होता रहता है। नवीन पर्याय उत्पन्न होती

है। पुरानी पर्याय नष्ट होती है। इस दृष्टि से पदार्थ नित्य भी है तथा अनित्य भी है। सामान्य स्वरूप की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है। पदार्थ जो पहले समय में था वही दूसरे समय में भी होता है। इस अपेक्षा से पदार्थ अव्ययी, अविनाशी एवं नित्य है। उत्पन्न एवं विनाश के होते रहने पर भी पदार्थ में जो पदार्थत्व बना रहता है वह उसका गुण है। पदार्थ में जो उत्पाद-व्यय होता रहता है वह परिणमन उसकी पर्याय हैं। इस अपेक्षा से पदार्थ अनित्य है। इस प्रकार जैन दर्शन पदार्थ / द्रव्य का लक्षण निम्न प्रकार से प्रतिपादित करता है :

- (1) पदार्थ (द्रव्य) का लक्षण 'सत्' अर्थात् सत्ता है।
- (2) पदार्थ (द्रव्य) का लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त है।
- (3) पदार्थ (द्रव्य) का लक्षण गुण-पर्याय आश्रित है :-

आचार्य कुन्दकुन्द का प्रसिद्ध कथन है :-

दव्वं सल्लवक्खणियं उत्पाद व्यय ध्रुवत्तर्सजुतं ।

गुणपज्ज या सयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हू ।।

(आचार्य कुन्दकुन्दः पंचास्तिकाय, गा0 10) ।

द्रव्य का उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त होना अथवा द्रव्य का गुण लक्षण पर्याय आश्रित होना ही अनेकान्तवादी विचार दृष्टि का बीज-मंत्र है। द्रव्य-लक्षण बीज है, अनेकान्तवाद बीज से विकसित वृक्ष है।

अनेकान्त : तत्त्वबोध की दृष्टि -

अनेकान्त शब्द अनेक एवं अंत इन दो शब्दों के संयोग से बना है। अंत का अर्थ यहाँ धर्म है। पदार्थ में विविध गुण होते हैं। पदार्थ अनन्त धर्मात्मक होता है। जड़ और चेतन में, अनात्मा एवं आत्मा में अनेक धर्म एवं गुण होते हैं। अनेकांतवाद जीव आदि पदार्थों का सामान्य गुणों एवं विशिष्ट गुणों आदि से संवलित बतलाना मात्र नहीं है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुणों की सत्ता की स्वीकृति अन्य दर्शनों में भी है। पदार्थ को अनन्त धर्मात्मक मानने वाले सभी दर्शन अनेकान्तवादी नहीं हैं। अनेकान्तवाद एकान्तवादी आग्रह का निषेध करता है। जब आग्रह समाप्त होता है, जब मतवाद समाप्त होता है, जब संकीर्णताएं टूटती हैं तब अनेकान्त दृष्टि का उदय होता है। जब दृष्टि में अनाग्रह, उदारता, व्यापकता, सहिष्णुता, समन्वय-भावना तथा सर्वधर्म समभाव आता है तब अनेकांत दृष्टि का उन्मेष होता है। प्रत्येक पदार्थ स्व सत्ता, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव रूप से अस्तिरूप है। प्रत्येक पदार्थ पर सत्ता, परक्षेत्र, परकाल एवं परस्वभाव की अपेक्षा से नास्तिरूप या असत् है। जो सत् है वही असत् है, जो तत् है वही अतत् है, जो अभेद दृष्टि से एक है वही भेद दृष्टि से अनेक है, जो द्रव्यार्थिक नय से नित्य है वही पर्यायार्थिक नय से अनित्य है। पदार्थ के पदार्थत्व में विद्यमान परस्पर विरुद्ध शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। अनेकांत-दृष्टि से विचार करना ही अनेकांतवाद है।

अनेकान्तवाद व्यापक विचार-दर्शन है। इससे हम विभिन्न दर्शनों एवं धर्मों को व्यापक पूर्णता में संयोजित कर सकते हैं, सर्व धर्म समभाव की स्थापना कर सकते हैं, ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न मतवादों में निहित सत्य का अनुसंधान कर सकते हैं, मानवीय व्यवहार की मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय विभिन्न विचारधाराओं में निहित तथ्यों एवं सत्यों का विश्लेषण एवं विवेचन कर सकते हैं।

जब हम एकांगी दृष्टि से विचार करते हैं तब मिथ्या मान्यता का आग्रह हमारी उन्मुक्त दृष्टि को कुंठित कर देता है। उन्मुक्त एवं वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर परस्पर विरुद्ध प्रतीयमान विचारों की सत्यता स्पष्ट हो जाती है। एक ही पदार्थ में परस्पर प्रतीयमान विरोधी धर्मों का अस्तित्व सम्भव है। एक दृष्टि से देखने पर प्रत्येक पदार्थ तत्स्वरूप होता है, काल का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जो शिशु जन्म लेता है उसका स्वरूप बदलता रहता है। समाज में एक ही व्यक्ति की भिन्न प्रस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ होती हैं। एक व्यक्ति यदि प्राध्यापक है तो 'प्राध्यापक-प्रस्थिति' में जिस प्रकार व्यवहार करता है उस प्रकार का व्यवहार अपने घर जाकर नहीं करता। घर में 'पति-प्रस्थिति' में अपनी पत्नी से एक प्रकार का व्यवहार करता है। घर में ही 'पिता-प्रस्थिति' में अपने बच्चों से दूसरे प्रकार का व्यवहार करता है। भाषा-व्यवहार के भी कितने भेद होते हैं। एक ही प्रस्थिति में एक ही व्यक्ति भिन्न-भाषा-शैलियों का प्रयोग करता है। भाषा की अपेक्षा से एक ही भाषा होती है; शैलियों की अपेक्षा से अनंत होती हैं। एक अध्यापक कक्षा में व्याख्यान देते समय जिस भाषा-शैली का प्रयोग करता है उसका प्रयोग अध्यापक कक्षा में अपने सहयोगी मित्रों से गप्प हांकते हुए नहीं करता। प्रशासनिक भवन में 'वाइस-चांसलर' से जिस तरह भाषा-व्यवहार करता है, उसका व्यवहार 'क्लर्क' से बात करते समय नहीं करता। प्रदत्त-प्रस्थिति के आधार पर जो परसा है, वह अर्जित-प्रस्थिति के आधार पर यदि परसू अथवा परसराम बन जाता है तो उसका स्वयं का सामाजिक-व्यवहार एवं भाषा-प्रयोग बदल जाता है। अभेद दृष्टि से एक ही भाषा है। भेद दृष्टि से उसमें विभिन्न भेद होते हैं – क्षेत्रीय बोलियाँ, वर्गगत बोलियाँ, अनंत शैलियाँ एवं प्रयुक्तियाँ।

एक ही काल एवं क्षेत्र में विभिन्न द्रष्टाओं की प्रतीतियाँ भिन्न प्रकार की हो सकती हैं। किसी फिल्म को देखकर जब दर्शक सिनेमा हॉल से बाहर निकलते हैं तो एक दर्शक कहता है – फिल्म सुपरहिट है। दूसरा दर्शक कहता है – फिल्म फ्लॉप है। काल के एक ही क्षण विश्व के एक भाग में सवेरा होता है, दूसरे भाग में शाम। काल के उसी क्षण विश्व के एक भूभाग का व्यक्ति 'सूर्योदय' देखता है, विश्व के दूसरे भाग का व्यक्ति सूर्यास्त के दर्शन करता है।

आइंस्टीन ने दिक्-काल की सापेक्षता का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आइंस्टीन का सिद्धान्त केवल भौतिक-विज्ञान तक सीमित है। अनेकान्तवाद जीवन के प्रत्येक पक्ष के विश्लेषण विवेचन की वैज्ञानिक प्रविधि है। यह सत्य के अनुसंधान की तर्कसंगत एवं सुनियोजित प्रक्रिया है।

पदार्थ के अनेकांत को पहले विभक्त करना है; विश्लेषित करना है। इसके बाद एक-एक गुण-धर्म को देखना है, विचार करना है, पहचानना है। तदनन्तर एक ही पदार्थ में अविरोधपूर्वक विधि और निषेध के भावों में समन्वय स्थापित करना है। इस प्रकार सीमित ज्ञान शक्ति के होते हुए भी पदार्थ के एक-एक गुण-धर्म का ज्ञान करने के अनन्तर पदार्थ के समग्र धर्मों एवं गुणों को पहचानना है। सामान्य व्यक्ति के द्वारा भी सत्य के सम्पूर्ण साक्षात्कार की शोध-प्रविधि का नाम है – अनेकान्तवाद।

इसी अनेकान्तवाद दृष्टि के कारण भगवान महावीर ने विरुद्ध प्रतीत होने वाले मतों को एक सूत्र में पिरो दिया। उन्होंने जीवन आचरण के लिए अहिंसा को परम धर्म माना। वैचारिक क्षेत्र की अहिंसा दृष्टि का नाम है – अनेकान्तवाद। उन्होंने मनुष्य के विवेक को जागृत किया; दृष्टि को व्यापक बनाया। भगवान ने उन्मुक्त दृष्टि से विचार करने का मार्ग प्रशस्त कर प्रतीयमान परस्पर विरोधी मतों में समन्वय स्थापित किया। तत्वबोध की व्यापक एवं सर्वव्यापी उदार दृष्टि के कारण वे पदार्थ का अनेकान्तिक स्वरूप पहचान सके। उनके विचारों में कहीं भी संशय नहीं है। उन्होंने स्पष्ट एवं निर्भात रूप में विचार दर्शन प्रस्तुत किया है :

(1) पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी। अपनी गुणात्मक सत्ता (ध्रौव्य स्वभाव) की दृष्टि से पदार्थ नित्य है किन्तु पर्याय (उत्पाद-व्यय) दृष्टि से अनित्य है। आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसे इस प्रकार समझाया है कि जिस प्रकार स्वर्ण-रूप में अवस्थित रहते हुए भी उसमें कड़ा कुंडल आदि अनेकविध रूप उत्पन्न एवं नष्ट होते रहते हैं उसी प्रकार द्रव्यों एवं पर्यायों को प्राप्त जीव द्रव्य (पदार्थ) का नित्यत्व एवं अनित्यत्व भी न्याय सिद्ध है :

जह कंचणस्स कंचण-भावेण अवट्ठियस्स कडगाई ।

उप्पज्जंति विणस्संति, चेव भावा अणेगविहा ।।

एवं च जीव दव्वस्स, दव्वपज्जव विसेस भइयस्स ।

निच्चत्तमणिच्चत्तं, च होइ णाओवल भंतं ।।

(आचार्य हरिभद्र सूरि: सावय पण्णत्ति, 184-185)।

(2) प्रवाह की अपेक्षा पदार्थ अनादि (शाश्वत) है। स्थिति (एक अवस्था) की अपेक्षा पदार्थ सादि (आदि-अंत होने वाला) है।

(3) स्वभाव की अपेक्षा से जीव और पुद्गल सदा अपनी-अपनी गुणात्मक सत्ता तथा पर्याय सत्ता में रहते हैं। विभाव की अपेक्षा से जीव और पुद्गल परस्पर प्रभाव डालते हैं।

संसार में जितने दर्शनभेद हो सकते हैं, जितने भी वचनभेद हो सकते हैं उतने ही नयवाद हैं। उन सबके समागम से अनेकान्तवाद फलित होता है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने भिन्न दर्शनों को भिन्न नयों की दृष्टि से विवेचित कर सुसंगत रूप से अनेकान्तवाद के सर्वधर्म समभाव रूप को संयोजित करने का स्तुत्य कार्य किया। आपने संग्रह नय की अपेक्षा से अद्वैतदर्शन, ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से बौद्ध-दर्शन, द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सांख्य-दर्शन तथा द्रव्यार्थिक नय एवं पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से कणाद दर्शन का समाहार कर धार्मिक सहिष्णुता के बीज का वपन किया। इस प्रकार अनन्त को अनेक अपेक्षाओं, अनेक दृष्टियों, अनेक रूपों से देखना एवं जानना अनेकान्तवाद है। अनेकान्त साधन है – ज्ञान की अनावृत्त दशा की प्राप्ति का। जब केवलज्ञान प्राप्त हो जाता है, जब साध्य की सिद्धि हो जाती है तो साधन 'अनेकान्तवाद' की प्रासंगिकता समाप्त हो जाती है।

स्याद्वादः तत्त्वबोध की अभिव्यक्ति का मार्ग –

भगवान महावीर ने “केवल-ज्ञान” प्राप्ति के बाद मोक्ष की प्राप्ति तक स्याद्वाद शैली में तत्त्व-निरूपण किया। अनेकांतवाद ज्ञानरूप है, स्याद्वाद वचनरूप है। अनेकान्तवाद व्यापक विचार दृष्टि है, स्याद्वाद उसकी अभिव्यक्ति का मार्ग है। अनेकांत पदार्थ के बोध का दर्शन है, स्याद्वाद उसके स्वरूप की विवेचना-पद्धति है। अनेकान्तवाद पदार्थ के एक-एक धर्म, एक-एक गुण को देखता है। स्याद्वाद पदार्थ के एक-एक धर्म, एक-एक गुण को मुख्य करके प्रतिपादन करने की शैली है। जिस समय पदार्थ के धर्म विशेष को अभिव्यक्त किया जाए उस समय उसके दूसरे धर्म एवं गुण दृष्टि से ओझल न हो जाएँ, इसके लिए अपेक्षा से प्रतिपादन किया जाता है। इस अपेक्षा से पदार्थ का गुण यह है, इस अपेक्षा से पदार्थ का गुण वह है। स्याद्वाद व्यक्ति को सचेत किए रहता है कि जो कथन है वह पूर्ण निरपेक्ष सत्य नहीं है। अपेक्षा दृष्टि से व्यक्त कथन आंशिक सत्य का उद्घाटन करता है। अनेकान्तवाद परस्पर प्रतीयमान विरोधी गुणों/धर्मों/लक्षणों को अंश-अंश रूप में जानकर समग्र एवं अनन्त को जान पाता है। स्याद्वाद दूसरे धर्मों या लक्षणों का प्रतिरोध किए बिना धर्म-विशेष/लक्षण -विशेष का प्रतिपादन करता है। समस्त सम्भावित सापेक्ष गुणों एवं धर्मों को प्रतिपादित कर समग्र एवं अनन्त को अभिव्यक्त करने की वैज्ञानिक प्रविधि का नाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद की निष्पत्ति ‘स्यात्’ से हुई है। सामान्य व्यवहार में ‘स्यात्’ का अर्थ है – शायद, कदाचित। इसी कारण स्याद्वाद को संशयवाद तथा स्याद्वादी को संशयवादी मान लिया गया। भगवान महावीर ने जिस शैली में प्रतिपादन किया वह संशय, संदेह, संदिग्धता को मिटाने वाली शैली थी। उन्होंने अपने युग में प्रचलित संदेहों का निवारण किया। जिसके मन में जो भी संशय एवं संदेह था, उसको भगवान महावीर ने अपनी व्यापक विचार दृष्टि एवं अपेक्षायुक्त प्रतिपादन शैली से मिटा दिया। उनके वचन निर्णयात्मक थे। उनकी शैली समाधानकारक थी। जैन दर्शन में ‘स्यात्’ निपात किसी पदार्थ के समस्त सम्भावित सापेक्ष गुणों एवं धर्मों का एक-एक रूप में अपेक्षा से प्रतिपादन करना है। स्यात् का अर्थ है अपेक्षा। स्याद्वाद का अर्थ है – अपेक्षावाद। जैन दर्शन के संदर्भ में स्यात् निपात पारिभाषिक शब्द है। यह अनेकान्त का द्योतक है। अनेकांत को व्यक्त करने वाला ‘स्यात्’। अनेकान्त को व्यक्त करने वाली भाषा-अभिव्यक्ति के मार्ग का नाम है-स्याद्वाद। आचार्य देवसेन का कथन है कि जिस प्रकार लोक में सिद्ध किया गया मंत्र एक एवं अनेक अभीष्ट फलों का प्रदायक होता है उसी प्रकार ‘स्यात्’ शब्द एक एवं अनेक अभिप्रेतों का साधक है :

सिद्ध यंत्रों यथा लोके, एकोऽनेकार्थ दायकः ।

स्याच्छब्दोऽपि तथा ज्ञेय, एकोऽनेकार्थ साधकः ॥

(आचार्य देवसेन : नयचक्र बृहद्) ।

इस प्रकार संक्षेप में कहा जा सकता है कि विभिन्न निश्चित अपेक्षाओं से पद-पदार्थ का प्रतिपादन करना स्याद्वाद है।

(अनेकान्तात्मकार्थ कथनं स्याद्वादः – आचार्य अकलंक : लघीय स्त्रयः टीका, 62) ।

अनेकांत एकांगी एवं आग्रह के विपरीत समग्रबोध एवं अनाग्रह का द्योतक है। इसी प्रकार 'स्याद्वाद' के 'स्यात्' निपात का अर्थ है – अपेक्षा से। स्याद्वाद का अर्थ है – अपेक्षा से कथन करने की विधि या पद्धति। अनेक गुण-धर्म वाली वस्तु के प्रत्येक गुण-धर्म को अपेक्षा से कथन करने की पद्धति। प्रतीयमान विरोधी दर्शनों में अनेकांत दृष्टि से समन्वय स्थापित कर सर्वधर्म समभाव की आधारशिला रखी जा सकती है।

धर्म के क्षेत्र में मंगल-क्रांति:

भगवान महावीर जैन ने धर्म के क्षेत्र में मंगल क्रान्ति सम्पन्न की। आपने उद्घोष किया कि आँख मूँदकर किसी का अनुकरण या अनुसरण मत करो। धर्म दिखावा नहीं है, रूढ़ि नहीं है, प्रदर्शन नहीं है, किसी के भी प्रति घृणा एवं द्वेषभाव नहीं है। आपने धर्मों के आपसी भेदों के विरुद्ध आवाज उठाई। धर्म को कर्म-कांडों, अन्ध विश्वासों, पुरोहितों के शोषण तथा भाग्यवाद की अकर्मण्यता की जंजीरों के जाल से बाहर निकाला। आपने घोषणा की कि धर्म उत्कृष्ट मंगल है। धर्म एक ऐसा पवित्र अनुष्ठान है जिससे आत्मा का शुद्धिकरण होता है। धर्म न कहीं गाँव में होता है और न कहीं जंगल में, बल्कि वह तो अन्तरात्मा में होता है। भगवान महावीर ने सभी के लिए धर्माचरण के नियम बनाए। आपने पहचाना कि धर्म साधना केवल सन्यासियों एवं मुनियों के लिए ही नहीं अपितु गृहस्थों के लिए भी आवश्यक है। इसी कारण आपने संयस्तों के लिए महाव्रतों के आचरण का विधान किया तथा गृहस्थों के लिए अणुव्रतों के पालन का विधान किया। धर्म केवल पुरुषों के लिए ही नहीं, स्त्रियों के लिए भी आवश्यक है। चन्दनबाला को आर्यिका/ साध्वी संघ की प्रथम सदस्या बनाकर आपने स्त्रियों के लिए अलग संघ बनाया। उनके युग में नारी की स्थिति सम्भवतः सम्मानजनक नहीं थी। भगवान महावीर के संघ में मुनियों एवं श्रावकों की अपेक्षा आर्यिकाओं / साध्वियों एवं श्राविकाओं की कई गुनी संख्या का होना इस बात का प्रमाण है कि युगीन नारी-जाति महावीर की देशना से कितना अधिक भावित हुई।

प्रत्येक प्राणी के कल्याण का मार्ग :

प्राणी मात्र के कल्याण के लिए संदेश:

भगवान महावीर का संदेश प्राणी मात्र के कल्याण के लिए है। उन्होंने मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव की सभी दीवारों को ध्वस्त किया। उन्होंने जन्मना वर्ण व्यवस्था का विरोध किया। इस विश्व में न कोई प्राणी बड़ा है और न कोई छोटा। उन्होंने गुण-कर्म के आधार पर मनुष्य के महत्व का प्रतिपादन किया। ऊँच-नीच, उन्नत-अवनत, छोटे-बड़े सभी अपने कर्मों से बनते हैं। जातिवाद अतात्विक है। सभी समान हैं। न कोई छोटा, न कोई बड़ा। भगवान की दृष्टि समभावी थी- सर्वत्र समता-भाव। वे सम्पूर्ण विश्व को समभाव से देखने वाले साधक थे, समता का आचरण करने वाले साधक थे। उनका प्रतिमान था – जो व्यक्ति अपने संस्कारों का निर्माण करता है, वही साधना का अधिकारी है। उनकी वाणी ने प्राणी मात्र के जीवन में मंगल प्रभात का उदय किया।

भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप में प्रत्येक व्यक्ति को मुक्त होने का अधिकार प्रदान किया। मुक्ति दया का दान नहीं है, यह प्रत्येक व्यक्ति का जन्म सिद्ध अधिकार है। जो आत्मा बंध का कर्ता है, वही आत्मा बंधन से मुक्ति प्रदाता है। मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता है। मनुष्य अपने भाग्य का नियन्ता है। मनुष्य

अपने भाग्य का विधाता है। भगवान महावीर का कर्मवाद भाग्यवाद नहीं है, भाग्य का निर्माता है।

(द्रष्टव्यः
http://hindi.webdunia.com/religion/occasion/mahaveer/0904/06/1090406055_1.htm

– प्राणी मात्र के कल्याण -महावीर का संदेश :- प्रोफ़ेसर महावीर सरन जैन)

भगवान महावीर की सम्प्रदायातीत दृष्टि :

जो इन्द्रियों को जीतने में विश्वास कर तदनु रूप आचरण करता है, वही जैन है। भगवान महावीर का दर्शन ऐन्द्रिक अनुभूतियों में रागद्वेष हीनता की स्थिति के निर्माण की साधना है, विश्व में विद्यमान पदार्थों में व्याप्त होकर भी अपनी पृथक आत्मा की सत्ता के एकत्व की अनुभूति करना है। विकारों से भिन्न स्वरूप, स्वभाव, एकरूप का साक्षात्कार कर शुद्धात्मा एवं परमात्मा बनना है। उनका धर्म प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा बनने के अधिकार प्रदान करता है। यहाँ आत्म-साक्षात्कार की साधना ही साध्य है, आत्म शक्ति ही उपास्य है। जब राग-द्वेष आदि विकारमूलक भावों का अन्त हो जाता है तो पर-द्रव्य का नवीन बंध नहीं होता। कर्म-परिस्पन्दों का आत्मा की ओर आगमन तो होता है किन्तु ये आत्मा से बंध नहीं पाते। नए बंधों के आगमन की धारा का निरोध हो जाता है। तत्पश्चात् अवशिष्ट कर्मबंधो को निःशेष करना होता है।

अंधी आस्तिकता एवं भाग्यवाद के सहारे नहीं अपितु अपने पुरुषार्थ एवं चारित्र्य से ही आत्म-साक्षात्कार सम्भव है। सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र्य की निर्मल, निर्दोष आराधना द्वारा क्रमिक विकास करता हुआ जीव जब तेरहवें गुण स्थान में प्रवेश करता है तो सर्वप्रथम मोहनीय कर्मक्षीण होते हैं। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीनों घाती कर्म भी समाप्त हो जाते हैं। इसका सहज परिणाम यह होता है कि आत्मा में अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र्य और अनन्त वीर्य की महाज्योति जगमगा उठती है। इस स्थिति में मन, वचन, काया रूप योगों की प्रवृत्ति चलती रहती है। सोचना, बोलना तथा शरीर-व्यापार होता रहता है। जब जीव तेरहवें गुण स्थान को छोड़कर चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होता है तब सब व्यापार समाप्त हो जाते हैं। उस स्थिति में अवशिष्ट अघाती कर्म – 5. वेदनीय 6. नाम 7. गोत्र 8. आयु भी समाप्त हो जाते हैं। यहाँ आकर आत्मा सर्वथा निष्कर्म हो जाती है। जीव का कर्मों के आवरण से सर्वथा मुक्त हो जाना ही मोक्ष है। सम्पूर्ण कर्मों का नाश ही मोक्ष है। सांसारिक दुखों और आवागमन से पूर्णतः छूटकर “स्वरूप” में रमण करना ही मोक्ष है। मोक्ष ही आत्मा का परमात्मा बनना है। जैन दर्शन जीवात्मा-इकाई को ही “परमात्मा” के समस्त गुण प्रदान करता है। साधना की सिद्धि परमात्मा में लय या विलीन होने में नहीं ; परमात्मा हो जाने में है।

मुनि नथमल जी (महाप्रज्ञ) ने भगवान महावीर की सम्प्रदाय-मुक्तता के सम्बन्ध में सारगर्भित विचार प्रस्तुत किया है:

“ भगवान महावीर ने मोक्ष का अनुबन्ध किसी सम्प्रदाय के साथ नहीं माना, किन्तु धर्म के साथ माना। भगवान “अश्रुत्वा केवली” के सिद्धान्त की स्थापना कर असाम्प्रदायिक दृष्टि को चरम बिन्दु तक ले गए।

“अश्रुत्वा केवली” उस व्यक्ति का नाम है जिसने कभी धर्म नहीं सुना, किन्तु अपनी नैसर्गिक निर्मलता के कारण केवली की कक्षा तक पहुँच गया। “अश्रुत्वा केवली” के साथ किसी भी सम्प्रदाय, परम्परा या धर्मारोधना की पद्धति का सम्बन्ध नहीं होता। उस सम्प्रदाय-मुक्त व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी मानकर महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता को मान्यता दे दी। महावीर ने एक सिद्धान्त की स्थापना और की। उसके अनुसार किसी भी सम्प्रदाय में प्रव्रजित व्यक्ति मुक्त हो सकता है। इस स्थापना में सम्प्रदाय के बीच व्यवधान डालने वाली खाइयों को पाटने का प्रयत्न है। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन दे सकता है, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित हो। कोई भी सम्प्रदाय किसी व्यक्ति को मुक्ति का आश्वासन नहीं दे सकता, यदि वह व्यक्ति धर्म से अनुप्राणित न हो। मोक्ष को सम्प्रदाय की सीमा से मुक्त कर भगवान महावीर ने धर्म की असाम्प्रदायिक सत्ता के सिद्धान्त पर दोहरी मोहर लगा दी।”

(जैन दर्शन: मनन और मीमांसा, पृष्ठ 53)

भगवान महावीर के संदेश की सामाजिक प्रासंगिकता

जैन धर्म एवं दर्शन केवल मुनियों के लिए ही नहीं है। जैन धर्म में गृहस्थों के लिए अणुव्रतों का विधान है। गृहस्थ के लिए आचरण का प्रतिमान है – अहिंसा धर्म का पालन करना। वैचारिक अहिंसा अनेकान्तवाद है; कथन शैली की अहिंसा स्याद्वाद है; आर्थिक क्षेत्र की अहिंसा परिग्रह-परिमाण-व्रत का पालन है।

जब व्यक्ति की दृष्टि भौतिकवादी होती है तो वह भौतिक पदार्थों का अधिक से अधिक परिग्रह करता है। उसकी लालसा बढ़ती जाती है। भगवान महावीर ने जाना था कि विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई जाल नहीं है। इसके कारण की विवेचना करते हुए भगवान ने कहा –

“इच्छा हु आगास-समा अणंतिया (इच्छा आकाश के समान अनन्त है)।

(उत्तराध्ययन, 9/48)

गृहस्थ अपरिग्रही नहीं हो सकता। गृहस्थी चलाने के लिए भौतिक पदार्थों की उपलब्धता जरूरी है। साँस लेने के लिए वायु, पीने के लिए पानी, खाने के लिए आहार, पहनने के लिए कपड़े, रहने के लिए मकान का होना अनिवार्य है। सुख के भौतिक साधनों का उपयोग एवं संचय गृहस्थ के लिए वर्जित नहीं है। धर्म एवं दर्शन की सामाजिक प्रासंगिकता इस तथ्य में निहित है कि धर्म से सदाचरण की प्रेरणा प्राप्त होती है। धर्म के बोध से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि इन्द्रियों को तृप्त करने वाला सुख एवं मानसिक शान्ति प्रदान करने वाला आचरण एकार्थक नहीं हैं। स्वार्थ एवं परार्थ एकार्थक नहीं हैं। बहिर्जगत एवं अन्तर्जगत एकार्थक नहीं हैं। भौतिक सुख एवं मानसिक शान्ति एकार्थक नहीं हैं। सामाजिक व्यक्ति को इनमें संतुलन स्थापित करना चाहिए। व्यक्ति को सफल, सम्पन्न, समृद्ध होने के साथ-साथ संतुष्ट एवं सुखी भी होना चाहिए। धर्म प्रत्येक प्राणी का मंगल करता है। इसी कारण भगवान महावीर ने धर्म को परिभाषित किया कि –

‘धम्मो मंगलमुक्कटठं’ (धर्म उत्कृष्ट मंगल है)।

(दशवैकालिक, 1/1)

सावय धम्मकार ने सामाजिक दृष्टि से विचार करते हुए प्रतिपादित किया कि मनुष्यता का सार सुख है। सुख धर्म के अधीन है_

‘सुहु सारउ मणुयत्तणहं तं सुहु धम्मायत्तु’।

(सावय धम्म दोहा, 4)

हिंसा से अशान्ति एवं पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से शान्ति, सद्भावना, मानवीयता एवं सामाजिकता का। जीववैज्ञानिक दृष्टि से तो आदमी भी एक पशु है। अहिंसा की चेतना एवं भावना के कारण उसमें मानवीय एवं सामाजिक भावना का विकास हुआ है। धर्म-भावना से चेतना का शुद्धिकरण होता है, वृत्तियों का उन्नयन होता है। धर्म व्यक्ति की पाशविकता को नष्ट करके उसमें मानवीयता एवं सामाजिकता के गुणों का उद्रेक करता है। धर्म व्यक्ति को जीने की कला सिखाता है। धर्म व्यक्ति के आचरण को पवित्र एवं शुद्ध बनाता है। धर्म से सृष्टि के प्रति करुणा एवं अपनत्व की भावना उत्पन्न होती है।

मनुष्य को अपने जीवन में जो धारण करना चाहिए वही धर्म है। धर्म दिखावा नहीं, रूढ़ि नहीं, प्रदर्शन नहीं, किसी के प्रति घृणा नहीं, मनुष्य और मनुष्य के बीच भेदभाव नहीं अपितु मनुष्य में मानवीयता के गुणों की विकास शक्ति है, सार्वभौम चेतना का सत्-संकल्प है। अपनी सम्पूर्णता में, समग्रता में, यथार्थता में ‘धर्म’ को टुकड़ों में नहीं बाँटा जा सकता, उसे खण्डों में नहीं तोड़ा जा सकता। धर्म एक समग्र सत्य-साधना है। संसार के किसी भी मनुष्य को अच्छा मनुष्य बनने के लिए, श्रेष्ठ सामाजिक व्यक्ति बनने के लिए जिन आदर्शों तथा जीवन-मूल्यों को अपने जीवन में धारण करना है, अपने आचरण में उतारना है – वही धर्म है।

धारण करने योग्य क्या है ? क्या हिंसा, क्रूरता, कठोरता, अपवित्रता, अहंकार, क्रोध, असत्य, असंयम, व्यभिचार, परिग्रह आदि विकार धारण करने योग्य हैं ? यदि संसार का प्रत्येक व्यक्ति हिंसक हो जाए तो यह संसार चार दिन भी नहीं चल सकता और न इसका अस्तित्व ही कायम रह सकता है। यदि समाज के सभी सदस्य झूठ बोलने लगे तो इसका परिणाम क्या होगा ? समाज के सदस्यों में परस्पर विश्वास-भाव समाप्त हो जायेगा। यदि समाज के सभी व्यक्ति यौन-मर्यादा के सामाजिक अथवा नैतिक बन्धनों को तोड़ दें तो उस स्थिति में क्या परिवार की कल्पना की जा सकेगी, सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना हो सकेगी ? यदि सभी व्यक्ति असंयमी, परिग्रही एवं व्याभिचारी हो जायेंगे तो इसकी परिणति क्या होगी ? इन्द्रिय भोगों की तृप्ति असंख्य भोग-सामग्रियों के निर्बाध सेवन एवं संयम-शून्य कामाचार से सम्भव नहीं है।

अहिंसा का आधार अपरिग्रह है तथा अपरिग्रह का आधार संयम है। जब व्यक्ति अपने को नियंत्रित एवं अनुशासित करता है, सामाजिक नियमों का पालन करता है, दायित्व-बोध की दृष्टि से जीवन व्यतीत

करता है तभी उसके अधिकार तथा उसकी स्वतन्त्रता कायम रह पाते हैं। जब व्यक्ति भौतिक वस्तुओं के संग्रह एवं परिग्रह का संयमन करता है तभी आर्थिक विषमताओं का अन्तर कम होता है तथा उत्पादित वस्तुएँ समाज की प्रत्येक इकाई तक पहुँच पाती हैं, प्रत्येक व्यक्ति की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हो पाती है।

(देखें -<http://www.jainworld.com/JWHindi/Books/ddharma/index.asp>)

प्राणी मात्र के कल्याण तथा सामाजिक सद् भाव एवं सामरस्य की दृष्टि से दश लक्षण धर्म – प्रोफेसर महावीर सरन जैन)

हमारी कामनाओं को नियंत्रित करने की शक्ति या तो धर्म में होती है या फिर शासन-व्यवस्था में। व्यक्ति अपनी चेतना के द्वारा अपने को अनुशासित करता है। जब समाज के सदस्यों में यह अनुशासन नहीं रह जाता तो व्यवस्था बनाये रखने के लिए राज्य-शक्ति निर्ममता के साथ कठोर दण्ड-व्यवस्था लागू करती है। धर्म-भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति आत्मानुशासन करता है। शासन के द्वारा विधि-विधानों तथा दंड-प्रक्रिया द्वारा व्यक्तियों पर लगाम लगायी जाती है। जिस समाज के व्यक्ति धर्म-चेतना से प्रेरित होकर आचरण करते हैं वहाँ शासन व्यवस्था की जकड़न कमजोर हो जाती है। उस स्थिति में व्यक्ति अधिक स्वतन्त्र, निर्भय एवं परस्पर सद्भावपूर्ण वातावरण में जीवन जीता है। जो धारण करने योग्य नहीं है, उन्हीं को जब समाज के व्यक्ति अपने आचरण का अंग बना लेते हैं तब राज्य की शक्ति व्यवस्था अधिक उग्र, कठोर एवं निर्मम हो जाती है। ऐसे समाज में केन्द्रीकृत अथवा व्यक्ति-विशेष की निरंकुश सत्ता एवं तानाशाही स्थापित हो जाती है। हमारे सामाजिक जीवन की स्वतन्त्रता, समता तथा पारस्परिक प्रेम, सद्भाव एवं विश्वासपूर्ण व्यवहार के लिए धर्म का पालन एक अनिवार्य शर्त है।

समभाव एवं समदृष्टि :

भगवान महावीर के दर्शन की यह मान्यता है कि जो समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखता है, वस्तुतः वही सच्चा श्रमण है। जो सुख और दुख को समभावपूर्वक सहन करता है, वही भिक्षु है। जो लाभ-अलाभ, सुख-दुख, जीवन-मरण, निंदा-प्रशंसा, मान-अपमान आदि हर स्थिति में समभाव रहता है, वही साधु है।

अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। आत्मा का जो नैसर्गिक और वास्तविक स्वरूप है, वह कभी पैदा नहीं होता, कभी विलुप्त नहीं होता। विशुद्ध तत्व दृष्टि अथवा निश्चय नय की दृष्टि से तो बंधन की व्याख्या सम्भव नहीं है। चूँकि बंधन की व्याख्या सम्भव नहीं है, इस कारण मुक्ति की व्याख्या भी सम्भव नहीं है। विशुद्ध तत्व दृष्टि से तो आत्मा नित्य मुक्त है। बंधन एवं मोक्ष की स्थितियां पर्याय दृष्टि से हैं। पर्याय अनादि से हैं। आत्मा एवं पुद्गल द्रव्य का अनादि कालीन संयोग है। संयोग के कारण विभाव रूप परिणमन है। जीव के राग द्वेष आदि विभावो को निमित्त करके ही कर्म आत्मा से बंधते हैं। जब जीव शुभ या अशुभ प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है, तब वह अपनी प्रवृत्ति से पुद्गलों का आकर्षण करता है। आकृष्ट पुद्गल आत्मा के परिपाश्र्व में अपने विशिष्ट रूप और शक्ति का निर्माण करते हैं। जीव के राग, द्वेष, मोह, ममत्व, मिथ्यात्व आदि विभाव शक्ति जन्य विकारों को निमित्त करके

ही पुद्गल कर्मणायें कर्मरूप से परिणमन करती हैं। आत्मा एवं पुद्गल द्रव्य का तो अनादिकालीन संयोग है किन्तु कर्म विशेष की दृष्टि से आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि नहीं है। कर्म विशेष आत्मा से सदैव-सदैव के लिए नहीं बंधते हैं। कर्म का बंधन पर्याय दृष्टि से है। एक विशेष कर्म के स्थान पर दूसरा विशेष कर्म आता रहता है। इस कारण जैन दर्शन कर्म-विशेष की दृष्टि से नहीं अपितु कर्म-प्रवाह की दृष्टि से आत्मा तथा कर्म का अनादि सम्बन्ध मानता है।

अस्तित्व की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्मायें समान हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से जो एक को जानता है, वह सब को जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है। इसी कारण जो ज्ञानी आत्मा इस लोक में छोटे-बड़े सभी प्राणियों को आत्मतुल्य देखते हैं, षट्द्रव्यात्मक इस महान लोक का सूक्ष्मता से निरीक्षण करते हैं तथा अप्रमत्तभाव से संयम में रत रहते हैं, वे ही मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हैं।

(सूत्रकृतांग, 1/12/18)

सामाजिक समता एवं एकता:

सामाजिक समता एवं जीवमात्र की एकता की दृष्टि से श्रमण परम्परा का अप्रतिम महत्व है। इस परम्परा में मानव को मानव के रूप में देखा गया है; वर्णों, जातियों, उपजातियों, कुलों, गोत्रों आदि का लेबिल चिपकाकर मनुष्य एवं मनुष्य के बीच किसी प्रकार की जन्मना आधार पर दीवारें खड़ी नहीं की गई हैं। प्राणियों में जन्मकृत कोई अन्तर नहीं है। प्रत्येक प्राणी में आत्मा है तथा निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा समान है। प्राणियों में जो अन्तर है, वह साधना की विकास-भूमि अर्थात् गुण स्थानों पर पहुँचने की क्रमिकता की दृष्टि से है। किस व्यक्ति की आत्मा का ज्ञान स्वरूप या मुक्त स्वरूप से कर्मों के आवरण से कितना आच्छादित है, आत्मा की पर्याय विरूपावस्था की क्या स्थिति है – इस दृष्टि से अन्तर है। आत्म विकास के पथ में जो प्राणी जितनी उच्च-भूमिका पर पहुँच जाता है, वह उतना ही उच्च है; जो प्राणी आत्मगुणों का जितना अधिक विकास कर लेता है, वह उतना ही उच्च है।

सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र्य की निर्मल एवं निर्दोष आराधना द्वारा प्रत्येक प्राणी क्रमिक विकास कर सकता है। किसी तीर्थंकर की पूजा का उद्देश्य उसका अनुग्रह प्राप्त करना नहीं है; उसे प्रसन्न करके उससे कुछ वरदान प्राप्त करना नहीं है; अपितु धर्म-तत्त्व में श्रद्धा होने की स्थिति निर्मित करना है। भगवान महावीर की पूजा करने की सार्थकता भगवान महावीर जैसी साधना करने में है। धर्म की सार्थकता कामनाओं की पूर्ति में नहीं, कामनाओं पर विजय प्राप्त करने में है। कोई दूसरा हमारा उद्धार नहीं कर सकता क्योंकि आत्मा ही वैतरणी नदी है। सत् प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही मित्र रूप है जबकि दुष्प्रवृत्ति में लगी हुई आत्मा ही शत्रु रूप है। आत्मा का दुख स्वकृत है। बन्धन से मुक्त होना व्यक्ति के हाथ में है। मानव की महिमा और मनुष्य-मनुष्य की समता का जितना जोरदार समर्थन भगवान महावीर का जैन धर्म करता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। प्रज्ञा, विवेक और आचरण के बल पर आध्यात्मिक पथ का अनुवर्तन करने वाले धार्मिक व्यक्ति को जैन दर्शन देवताओं का उपास्य मानता है। इसलिए यहाँ उद्घोष किया गया कि अहिंसा, संयम, तप रूप धर्म की साधना करने वाले साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं।

(दशवैकालिक, 1/1)

साधक को समस्त जीवों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए तथा संसार के सभी जीवों को समभाव से देखना चाहिए। समभाव की साधना ही व्यक्ति को श्रमण बनाती है। तीर्थंकर लोक मंगल की आराधना के लिए “तीर्थ” का निर्माण करते हैं जहाँ प्राणी मात्र को विश्वास, आस्था एवं ज्ञान का अमोघ मंत्र प्राप्त होता है। इसी कारण जैनाचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि भगवन् ! आपकी व्यवस्था सभी प्राणियों के सर्वदुखों का अंत करने वाली और सबका कल्याण करने वाली है ; सर्वोदय तीर्थ है ‘सर्वोदयं तीर्थं मिदं तवैव’।

(आचार्य समन्तभद्र: युक्तयनुशासन, 61)

आत्मतुल्यता एवं लोकमंगल की आचरण मूलक भूमिका :

भगवान महावीर का जैन दर्शन एवं धर्म लोकमंगल की आचरण मूलक भूमिका के व्यावहारिक सामाजिक-सूत्र प्रदान करता है। सृष्टि के प्रत्येक प्राणी के प्रति जब राग एवं द्वेष के स्थान पर आत्मतुल्यता की ज्ञान-ज्योति से सहअस्तित्व, मैत्री एवं करुणा की भावना जागृत होती है तभी व्यक्ति का चित्त धार्मिक बनता है। समाज के सभी सदस्यों में धर्म प्रभावना उत्पन्न होने पर सारा समाज सुखी एवं परस्पर सद्भाव के साथ “समतामय” बन सकता है। भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के प्रति आत्मतुल्य भाव रखने पर इसी कारण बल दिया:

‘आय तुले पयासु’ (प्राणियों के प्रति आत्मतुल्य भाव रखो !)

(सूत्रकृतांग, 1/11/3)

इसके लिए जैन धर्म अत्यन्त तार्किक एवं व्यावहारिक जीवन दृष्टि प्रदान करता है। “जो बात हमें बुरी लगती है, वह दूसरे को भी बुरी लगती है। दूसरों के दुख को अपने जैसा दुख समझने वाला व्यक्ति ऐसा कोई कार्य नहीं करेगा जो दूसरों को अप्रिय लगे”।

अहिंसा परम धर्म:

भगवान महावीर ने अहिंसा की परिधि को विस्तार दिया। आपकी अहिंसा दया एवं करुणा पर आधारित नहीं है, मैत्री भाव पर आधारित है। आपने अहिंसा को परम धर्म के रूप में मान्यता प्रदान कर, धर्म की सामाजिक भूमिका को रेखांकित किया। आर्थिक विषमताओं के समाधान का रास्ता परिग्रह-परिमाण-व्रत के विधान द्वारा निकाला। वैचारिक क्षेत्र में अहिंसावाद स्थापित करने के लिए अनेकांतवादी जीवन दृष्टि प्रदान की। व्यक्ति की समस्त जिज्ञासाओं का समाधान स्याद्वाद की अभिव्यक्ति के मार्ग को अपनाकर किया। जैन शास्त्र में राग-द्वेष परिणामों के उत्पन्न न होने को अहिंसा कहा गया है। अहिंसा परम धर्म है। ऐसी स्थिति में क्या राग-द्वेष परिणामों के उत्पन्न न होने को परम धर्म माना जा सकता है। केवल राग-द्वेष का अभाव परमात्म-दशा का धर्म नहीं माना जा सकता। राग-द्वेष के अभाव की स्थिति राग-द्वेष रूप परिग्रह के अभाव की स्थिति है। अतः इसे महत्तम धर्म ही कहा जा सकता है। अहिंसा की पूर्ण स्थिति तो परमात्म दशा में स्पष्ट होती है। इस कारण अहिंसा ही परम धर्म है। अपरिग्रह से

आत्मतुल्यता की चेतना के विकास की स्थिति का समारम्भ होता है। अहिंसा में प्राणी मात्र के प्रति समता भाव है। प्रत्येक जीव में आत्मा है। स्वरूप की दृष्टि से सभी आत्माएँ समान हैं। जैन शास्त्रों में आत्मा की शुद्ध अवस्था की प्राप्ति की दृष्टि से क्रमिक सोपानों अथवा गुणस्थानों का विवेचन मिलता है। इस सम्बन्ध में विचार करने का अवकाश नहीं है। सम्प्रति, इतना कहना अभीष्ट है कि दशम गुण स्थान के अन्त तक राग-द्वेष रूप परिग्रह भाव का सर्वथा अभाव हो जाता है। तेरहवें गुणस्थान में ही 'सयोग केवली' की स्थिति है जिसमें आत्मा की आन्तरिक परिणति के रूप में अहिंसा भाव होता है। इस कारण अहिंसा परम धर्म है ; राग-द्वेष आदि भावों का परिहार महत्तम धर्म है।

राग-द्वेष परिणामों के उत्पन्न न होने को अहिंसा विशेष प्रयोजन की दृष्टि से कहा गया है। हिंसा दो प्रकार की होती है। अपने आवश्यक कर्तव्यों की पूर्ति के समय बिना जाने एवं बिना इच्छा के हो जाने वाली हिंसा। इच्छापूर्वक हिंसा राग-द्वेष आदि भावों के कारण होती है। जो हिंसा इच्छापूर्वक की जाती है उससे जीव को कर्मबन्ध होता है। इस दृष्टि से हिंसा राग-द्वेष आदि भाव हैं। इसी दृष्टि से राग-द्वेष परिणामों का उत्पन्न न होना अहिंसा है।

क्रोध, मान, माया एवं लोभ का निग्रहः

राग-द्वेष के परिहार के लिए क्रोध, मान, माया एवं लोभ का निग्रह करना है। ये चारों अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं:

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा-

(क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों अन्तरात्मा के भयंकर दोष हैं)।

(सूत्र कृतांग, 1/6/26)

क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव से, माया को आर्जव से तथा लोभ को संतोष से जीतने का विधान है। झूठ बोलने, चोरी करने तथा परिग्रह करने का मूल कारण लोभ है। लोभ को सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह महाव्रतों के पालन से जीतना है। लोभ को शौच एवं संयम से जीतना है। सत्य, त्याग, तप, आकिंचन्य एवं ब्रह्मचर्य द्वारा निर्जरा की भावभूमि बनती है।

संयासी को महाव्रतों के पालन तथा समितियों के अनुरूप आचरण के साथ-साथ अन्य प्रकारों एवं विधियों से भी प्रबुद्ध किया गया है। शुद्ध चेतना/राग-द्वेष रहित आत्मा का सहज स्वभाव है – उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य। इस कारण ये धर्म की 10 विधियाँ हैं। इनके आंशिक पालन मात्र से गृहस्थ का जीवन सुखी बनता है। उसके जीवन में शान्ति आती है। पारिवारिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में सद्भावों का संचार होता है। लेखक ने इनकी विवेचना अपनी पुस्तक में विस्तार से की है।

(विशेष अध्ययन के लिए देखें – भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, पृष्ठ 221-263, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद)

अहिंसा : जीवन का सकारात्मक मूल्य

जैन दर्शन अहिंसा शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में करता है – मन, वचन, कर्म से किसी को पीड़ा न देना। “अहिंसा” जीवन का विधानात्मक मूल्य है। जब व्यक्ति सभी जीवों को समभाव से देखता है तो राग-द्वेष का विनाश हो जाता है। उसका चित्त धार्मिक बनता है। रागद्वेष हीनता धार्मिक बनने की प्रथम सीढ़ी है। शत्रु अथवा मित्र सभी प्राणियों पर समभाव की दृष्टि रखना ही अहिंसा है। समभाव एवं आत्मतुल्यता की दृष्टि का विकास होने पर व्यक्ति अहिंसक अपने आप हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक प्राणी जीवित रहना चाहता है। सबको अपना जीवन प्रिय है। सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। सभी प्राणियों को दुख अप्रिय है। किसी भी प्राणी को न मारना तथा किसी भी प्राणी को दुख न पहुँचाना ही अहिंसा है। अहिंसा केवल निवृत्तिपरक साधना नहीं है, यह व्यक्ति को सही रूप में सामाजिक बनाने का अमोघ मंत्र है। अहिंसा के साथ व्यक्ति की मानसिकता का सम्बन्ध है। इस कारण भगवान महावीर ने कहा कि अप्रमत्त आत्मा अहिंसक है। एक कृषक अपनी क्रिया करते हुए यदि अनजाने जीव हिंसा कर भी देता है तो भी हिंसा की भावना उसके साथ जुड़ती नहीं है। भले ही हम किसी का वध न करें, किन्तु किसी के वध करने के विचार के जन्मते ही उसका सम्बन्ध मानसिकता से सम्पृक्त हो जाता है। हिंसा से पाशविकता का जन्म होता है, अहिंसा से मानवीयता एवं सामाजिकता का। दूसरों का अनिष्ट करने की नहीं, अपने कल्याण के साथ-साथ दूसरों का भी कल्याण करने की प्रवृत्ति ने मनुष्य को सामाजिक एवं मानवीय बनाया है।

अहिंसा से अनुप्राणित अर्थतंत्र: अपरिग्रह :

अहिंसा के साथ ही जुड़ी हुई भावनाएँ हैं – अपरिग्रहवाद एवं अनेकांतवाद। परिग्रह से आसक्ति एवं ममता का जन्म होता है। अपरिग्रह वस्तुओं के प्रति ममत्वहीनता का नाम है। जब व्यक्ति अहिंसक होता है, रागद्वेष रहित होता है तो स्वयंमेव अपरिग्रहवादी हो जाता है। उसकी जीवन दृष्टि बदल जाती है। भौतिक-पदार्थों के प्रति उसकी आसक्ति समाप्त हो जाती है। अहिंसा की भावना से प्रेरित व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाता है, जिसमें किसी अन्य प्राणी के हितों को आघात न पहुँचे। बहुत अधिक उत्पादन मात्र करने से ही हमारी सामाजिक समस्याएँ नहीं सुलझ सकतीं। हमें व्यक्ति के चित्त को अन्दर से बदलना होगा। जब व्यक्ति धर्म से प्रेरणा प्राप्त कर अपनी कामनाओं एवं इच्छाओं को स्वयं सीमित करना सीखेगा तभी बहुत सी सामाजिक समस्याओं को सुलझाया जा सकेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि कोई सामाजिक प्राणी सम्पूर्ण पदार्थों को छोड़ दे। किन्तु हम अपने जीवन को इस प्रकार से ढाल सकते हैं कि पदार्थ तो हमारे पास रहे किन्तु उसके प्रति हमारी आसक्ति न हो। धर्म यह प्रेरणा दे सकता है जिससे हम अपने जीवन में पदार्थों की मात्रा का स्वयं निर्धारण करना सीखें, उनके प्रति अपने ममत्व को कम करना सीखें। समाज में इच्छाओं को संयमित करने की भावना का विकास आवश्यक है। इसके बिना मनुष्य को शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

“पर कल्याण” की चेतना व्यक्ति की इच्छाओं पर लगाम लगाती है तथा उसमें त्याग करने की प्रवृत्ति एवं “परिग्रह परिमाण वृत्ति” की भावना का विकास करती है।

परिग्रह की वृत्ति मनुष्य को अनुदार बनाती है; उसकी मानवीयता को नष्ट करती है। उसकी लालसा

बढ़ती जाती है। धन लिप्सा एवं अर्थलोलुपता ही उसका जीवन-लक्ष्य हो जाता है। उसकी जिन्दगी पाशविक शोषणता के रास्ते पर बढ़ना आरम्भ कर देती है। इसके दुष्परिणामों को भगवान महावीर ने पहचाना था। इसी कारण उन्होंने कहा कि जीव परिग्रह के निमित्त हिंसा करता है, असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन का सेवन करता है और अत्यधिक मूर्च्छा करता है। परिग्रह को घटाने से ही हिंसा, असत्य, अस्तेय एवं कुशील इन चारों पर रोक लगती है। इसी कारण भगवान महावीर ने स्पष्ट रूप से कहा कि विश्व के सभी प्राणियों के लिए परिग्रह के समान दूसरा कोई बंधन नहीं है:

नत्थि एरिसो पासो पडिबंधो अत्थि सव्व जीवाणं सव्व लोए ।

(प्रश्नव्याकरण, 1/5)

परिग्रह के परिमाण के लिए “संयम” की साधना आवश्यक है। संयम पारलौकिक आनन्द के लिए ही नहीं, इस लोक के जीवन को सुखी बनाने के लिए भी आवश्यक है। आधुनिक युग में पाश्चात्य जगत ने व्यक्तित्व स्वातंत्र्य के अतिरेक से उत्पन्न स्वच्छंद यौनाचार एवं निर्बाध इच्छाओं को परितृप्त करने में मानवीय जीवन की सार्थकता तलाशने के व्यामोह के कारण पिछले दशकों में जो संयमहीन आचरण किया, उसका क्या परिणाम निकला है ? निर्बाध भोगों में निरत, लक्ष्यहीन, सिद्धान्तहीन, मूल्यहीन समाज की स्थिति क्या है ? ऐसे समाज के सदस्यों के पास पैसा हो सकता है, धन-दौलत हो सकती है मगर क्या उनके जीवन में सुख, शान्ति, विश्वास, तृप्ति भी है ? यदि जीवन में परस्पर प्रेम, विश्वास, सद्भाव नहीं हैं तो क्या इस प्रकार का जीवन अनुकरणीय माना जा सकता है ? संत्रास, अतृप्ति, वितृष्णा एवं कुंठाओं से भरा जीवन क्या किसी को स्वीकार्य होगा ?

वैचारिक अहिंसा : अनेकान्तवाद :

अहिंसक व्यक्ति आग्रही नहीं होता। उसका प्रयत्न होता है कि वह दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचावे। वह सत्य की तो खोज करता है, किन्तु उसकी कथन शैली में अनाग्रह एवं प्रेम होता है। अनेकांतवाद व्यक्ति के अहंकार को झकझोरता है। उसकी आत्यन्तिक दृष्टि के सामने प्रश्नवाचक चिन्ह लगाता है। अनेकान्तवाद यह स्थापना करता है कि प्रत्येक पदार्थ में विविध गुण एवं धर्म होते हैं। सत्य का सम्पूर्ण साक्षात्कार सामान्य व्यक्ति द्वारा एकदम सम्भव नहीं हो पाता। अपनी सीमित दृष्टि से देखने पर हमें वस्तु के एकांगी गुण-धर्म का ज्ञान होता है। विभिन्न कोणों से देखने पर एक ही वस्तु हमें भिन्न प्रकार की लग सकती है तथा एक स्थान से देखने पर भी विभिन्न दृष्टियों की प्रतीतियाँ हो सकती हैं। हम यह विवेचन कर चुके हैं कि “स्याद्वाद” अनेकांतवाद का समर्थक उपादान है ; तत्वों को व्यक्त कर सकने की प्रणाली है ; सत्य कथन की वैज्ञानिक पद्धति है। मिथ्या ज्ञान के बन्धनों को दूर करके स्याद्वाद ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया ; एकांतिक चिन्तन की सीमा बताई। आग्रहों के दायरे में सिमटे हुए मानव की अन्धेरी कोठरी को अनेकांतवाद के अनन्त लक्षण सम्पन्न सत्य-प्रकाश से आलोकित किया जा सकता है। आग्रह एवं असहिष्णुता के बंद दरवाजों को स्याद्वाद के द्वारा खोलकर विविध दृष्टियों एवं सन्दर्भों से उन्मुक्त विचार करने की प्रेरणा प्रदान की जा सकती है। यदि हम वैज्ञानिक पद्धति से सत्य का साक्षात्कार करना चाहते हैं तो अनेकांतवाद से दृष्टि लेकर स्याद्वादी प्रणाली द्वारा कर सकते हैं; विचार के धरातल पर उन्मुक्त चिन्तन तथा अनाग्रह, प्रेम एवं सहिष्णुता की भावना का विकास कर

सकते हैं।

मानव की मूलभूत भौतिक आवश्यकताओं एवं मानसिक आकांक्षाओं को पूरा करने वाली न्यायसंगत विश्व व्यवस्था की स्थापना अहिंसा मूलक जीवन दर्शन के आधार पर सम्भव है। भौतिकवादी दृष्टि है – योग्यतम की उत्तरजीविता। इसके विपरीत भगवान महावीर की दृष्टि है – विश्व के सभी पदार्थ परस्पर उपकारक हैं। भौतिकवादी दृष्टि संघर्ष एवं दोहन की वृत्तियों का संचार करती है। अहिंसा की भावना पर आधारित विश्व शान्ति की प्रासंगिकता, सार्थकता एवं प्रयोजनशीलता स्वयंसिद्ध है। विश्व शान्ति की सार्थकता एक नए विश्व के निर्माण में है जिसके लिए विश्व के सभी देशों में सद्भावना का विकास आवश्यक है। सह-अस्तित्व की परिपुष्टि के लिए आत्म तुल्यता एवं समभाव की विचारणा का पल्लवन आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के लिए विश्व बंधुत्व की भावना का पल्लवन आवश्यक है। आज के युग ने मशीनी सभ्यता के चरम विकास से सम्भावित विनाश के जिस राक्षस को उत्पन्न कर लिया है वह किसी यंत्र से नहीं, अपितु 'अहिंसा-मंत्र' से ही नष्ट हो सकता है। भगवान महावीर ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए आत्मतुल्यता एवं अनेकांतवाद की लेखनी से अहिंसा, सत्य एवं अपरिग्रह के पृष्ठों पर स्याद्वाद की स्याही से धर्म-आचरण का जो प्रतिमान एवं कीर्तिमान प्रस्थापित किया है वह सर्वोदय का कारक बने – मेरी यही मंगल कामना है।

—

प्रोफेसर महावीर सरन जैन

सेवा निवृत्त निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान

123 हरि एन्कलेव

बुलन्दशहर – 203001

mahavirsaranjain@gmail.com

.